

मङ्गलस्यैकार्थ उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायवचनानि (१ पुण्यं पूदपविता पसत्थसिवभद्वखेमकल्लाण्णा । सुहसोक्खादी सव्वे णिद्धिट्ठा मङ्गलस्स पज्जाया ॥ ति.प. १, ८.) । एकार्थप्ररुणं किमर्थमिति (२ मु. किमिति ।) चेत् ? यतो मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेष्वनेकाभिधानैर्मङ्गलार्थः (३ मु. शास्त्रेषु नैकामिधानैः मङ्गलार्थः ।) प्रयुक्तश्चिरंतनाचार्यैः, सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थ उच्यते । घ्यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः ङ इति वचनाद्वा ।

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति (४ मु. विनाशयति दहति ।) हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् (५ गालयति विनाशयति धादेदि दहेदि हंति सोधयति । विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मङ्गलं भण्णितं ॥ ति. प. १, ९.) । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात् (६ दोण्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहि । ति. प. १, १०.) । द्रव्यमलं द्विविधम् (७ दव्वमलं दुविहप्पं बाहिरमभ्यंतरं चेय । सेदमलरेणुकद्वमपहुदी बाहिरमलं समुद्धिट्ठं । ति. प. १, १०-११.) -बाह्यमभ्यंतरं (८ मु. माभ्यन्तरं ।) च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । (९ पुणु दिट्ठजीवपदेसे णिबंधरुवाइ पयडिदिदिआई । अणुभागपदेसाइं चउहिं पत्तेक्कभेज्जमाणं तु ।।)घन-कठिन-जीव-

शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मङ्गलके पर्यायवाची नाम हैं ।

शंका--- यहांपर मङ्गलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोंका प्ररुपण किसलिये किया गया है ?

समाधान---क्योंकि, मङ्गलरूप अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची नामोंके द्वारा मङ्गलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है । इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक शास्त्रोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा मङ्गलरूप अर्थका कथन किया है । उसका मतिभ्रमके विना शिष्योंको सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिये यहांपर मङ्गलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं ।

अथवा, 'यदि शिष्य एक शब्दसे प्रकृत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये' इस वचनके अनुसार भी यहांपर मङ्गलरूप अर्थके पर्यायवाची अनेक नाम कहे गये हैं ।

अब मङ्गलकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ) कहते हैं । जो मलका गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मङ्गल कहते हैं । द्रव्यमल और भावमलके भेदसे वह मल दो प्रकारका है । द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य-प्रदेश-निबद्ध-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-

विभक्त-ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम् (१ भावमलं णादव्वं अण्णाणादंसणादिपरिणामो ॥ ति.प. १, १३.) ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः । तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा(२ अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा । ति. प. १, १४.) । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् (३ ताइं गालेदि पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥ ति. प. १, १४.) । अथवा मङ्गं सुखं, तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम् (४ अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा । एदाण कज्जसिद्धिं मंगलगत्थेदि गंथकत्तारो ॥ ति.प. १, १४, १५.) । उक्तं च-

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः (५ पुव्वं आइरिएहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं । तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलप्पवरं ॥ ति. प. १, १६.) पुण्यार्थस्याभिधायकः ।

तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥ १६ ॥

द्रव्यमल और अभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमेंसे, पसीना, धूलि और मल आदि बाह्य-द्रव्यमल हैं । सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोंको भावमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका है । अर्थमलको तो अभी पहले कह आये हैं, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, अभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोंको अभिधान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, इसी प्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका है । उस मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं ।

अथवा, मंग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं । कहा भी है --

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥ १६ ॥

पाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं । अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो । ति.प. १, ११-१२.

पापं (१ पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरुवएण जीवाणं । तं गालेदि विणासं णेदि ति भणंति मंगलं वेहं ॥ ति. प. १, १७) मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।

तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥ १७ ॥

किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो ति ।

छहि अणिओग-द्वारेहि सब्ब-भावाणुगंतव्वा (३ मूलाचा. ७०५. दुविहा परुवणा, छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो । किं कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविहो य भवे ॥ आ.नि. ८६४. तानीमानि षडनुयोगद्वाराणि, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरण-स्थितिविधानतः । त.सू. १, ७. तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्यकथनं स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने कारणनिरूपणं साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे आधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने कालप्ररूपणं स्थितिः । कतिविध इत्यनुयोगे प्रकारकथनं विधानम् । लघीय पृ. ९५.) ॥ १८ ॥

अथवा मङ्गति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मङ्गलम् । मङ्गल-शब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलस्यानुयोग (२ अणुओयणमणुओगो सुयस्स नियएण जमभिधेएणं । वावारो वा जोगो जो अणुरुवोऽणुकूलो वा ॥ अहवा जमत्थओ थोवपच्छभावेहिं सुयमणुं तस्स । अभिधेए वावारो जोगो तेणं व संबंधो ॥ वि.मा. १३९३, १३९४.) उच्यते-

किं मङ्गलम्? जीवो मङ्गलम् । न सर्वजीवानां मङ्गलत्वप्राप्तिः (४ मु. मङ्गलप्राप्तिः ।) द्रव्यार्थिक-नयापेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां उपचारसे पापको भी मल कहा है । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं । इस तरह मंगल शब्दके अर्थ- विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेकेलिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है ।

अब मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हैं ।

विशेषार्थ--- जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वापार संदर्भ मिलाते हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोडनेको अनुयोग कहते हैं ।

अथवा, एक ही आगम-कथित-सूत्रके अनन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' संज्ञा है। उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं ।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इस प्रकार इन छह अनुयोग-द्वारोंसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है ।

च मङ्गलत्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम्? जीवस्य द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य पर्यायार्थिकनयार्पणयोत्पादविगमात्मकस्य । देवदत्तात्कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात् :

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभावैः ।

क्व मङ्गलम्? जीवे । कुण्डाब्ददराणामिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सारे स्तम्भ इत्यत्राभेदेऽपि सप्तम्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

मंगल क्या है? जीव मंगल है। किन्तु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप नहीं हो जावेंगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा केवल ज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना है ।

मंगल किसके होता है? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मंगल होता है। यहां पर जिस प्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवका मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं हैं । क्योंकि, घ्यह अंगूठी स्वर्णकी हैड यहां पर अभेदमें, अर्थात् अंगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अभिन्न होने पर भी जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसी प्रकार 'जीवस्य मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें षष्ठी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह संबन्धकारकमें अनेकान्त समझना चाहिये । अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी संबन्धकी विवक्षासे षष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी षष्ठी कारकका प्रयोग होता है ।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है? जीवके औदयिक, औपशमिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ-- यद्यपि कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उनसे मंगलकी उत्पत्ति मानना तो ठीक है। परंतु औदयिक भावसे मंगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहां पर औदयिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है यह कहना किस प्रकार संभव है? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, फिर भी पूजा-भक्ति तथा अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्त रागरूप औदयिक भाव मंगलका कारण है। इसलिये उसकी अपेक्षासे औदयिक भावको भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें ग्रहण किया है।

मंगल किसमें उत्पन्न होता है? जीवमें मंगल उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कूंडेसे उसमें रखे हुए बेरोंका भेद है, उस प्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, 'सारे स्तंभः' अर्थात् वृक्षके सारमें स्तंभ है। यहां पर जिसतरह अभेदमें भी सप्तमी विभक्तिकी

कियच्चिरं मङ्गलम्? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्वा (१ मु. सर्वोद्यम् ।) । एकजीवापेक्षया अनाद्यपर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसितता मङ्गलस्य ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्टयवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं, तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः । नावृतावस्थायां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावः, आब्रियमाणकेवलज्ञानाद्यभावे तदावरणानुपपत्तेः, जीवलक्षणयोज्ञानदर्शनयोरभावे लक्ष्यस्याप्यभावापत्तेश्च । न चैवं तथाऽनुपलम्भात् ।

उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'जीवे मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें सप्तमी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अधिकरण कारकके प्रयोगमें भी अनेकान्त है। अर्थात् कहीं भेदमें भी अधिकरण कारक होता है और कहीं अभेदमें भी अधिकरण कारक होता है।

कबतक मंगल रहता है? नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा मंगल रहता है और एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त इस प्रकार मंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका-- मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक जीवके अनादि कालसे अनन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है?

समाधान-- द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मंगलमें अनादि-अनंतपना बन जाता है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे जीव अनादिकालसे अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभाव अवस्थित है, अतएव मंगलमें भी अनादि-अनन्तपना बन जाता है।

शंका-- इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायगी ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह इष्ट है। किंतु इससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदिको मंगलपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त-धर्मात्मक है।

आवृत अवस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामें मंगलीभूत केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अवस्थामें ये सर्वथा नहीं पाये जाते, यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्रियमाण अर्थात् जो कर्मोंकेद्वारा आवृत होते हैं ऐसे केवलज्ञानादिके अभावमें केवलज्ञानादिको आवरण करनेवाले कर्मोंका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा। दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति आ जाती है। लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः, तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात् । पर्यायत्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुटयज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात् । न च्छन्नस्थज्ञानदर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः । रजोजुषां इतानदर्शने नमङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्त्वात् । मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां

प्रमाणोंसे जीवका अभाव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता। किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि होती ही है।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ताप और प्रकाशकी वहां पर भी उपलब्धि होती है।

विशेषार्थ-- आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामें उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस अनुमानको ध्यानमें रखकर शंकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमें अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका

सद्भाव नहीं पाया जाता है । इस तरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचरित हो जाता है । इस प्रकार शंकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि राखसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर सिद्ध होती है ।

शंका-- केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं । इसलिये आवृतअवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है?

समाधान-- यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नहीं टूटनेवाली ज्ञानसंतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके (शक्ति रूपसे) सदा पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

छन्नस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मंगलपनेका अभाव होने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमंगलपना प्राप्त होगा ।

शंका-- आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान-- ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शंका-- केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं? इनका अभाव कैसे किया जा सकता है?

समाधान-- उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि नाना संज्ञाएँ हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी मत्यादिव्यपदेशात् । तयोः केवलज्ञानदर्शनाडकुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलत्वम् । न मिथ्यादृष्टयः सुगतिभाजः, सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावात् कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगताप्तस्वरूपाणां केवलज्ञानदर्शनावयवत्वेनाध्यवसितरजो जुड्ज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्तिखचितात्मस्मृतृणां वा पापक्षयकारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः । नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलापेक्षया वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति । रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनैवाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया

अवस्थाविशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है । यथार्थमें इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं ।

शंका-- केवलज्ञान और केवलदर्शनके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अंकुर विद्यमान है?

समाधान-- यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु इतनेसे ही मिथ्यात्व, अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

शंका-- मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमें समीचीनता नहीं पाई जाती । तथा समीचीनताके विना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है। फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है?

समाधान-- ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आवरण-रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें जिस प्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है । इसलिये मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगलपना होनेमें विरोध नहीं है।

अथवा, नोआगमभाविद्रव्यमंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि-अनंत है।

विशेषार्थ-- जो आत्मा वर्तमानमें मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमें मंगलपर्यायसे युक्त होगा । उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि-अनन्तरूप मंगलपना बन जाता है ।

रत्नत्रयको धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्धके स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि-अनंत है।

विशेषार्थ-- रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनंतर सिद्ध स्वरूपकी

१. मु. मङ्गलम् । तन्न ।

नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मङ्गलम् । सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तकालमुत्कर्षेण षट्षष्टिसागरा देशोनाः ।

कतिविधं मङ्गलम् ? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेवाच्चतुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, 'णमो जिणाणं' इत्यादिनानेकविधं वा ।

अथवा मंगलम्हि छ अहियाराए दंडा वत्तव्वा भवन्ति । तं जहा, मंगलं मंगलकत्ता मंगल-करणीयं मंगलोवायो मंगल-विहाणं मंगल-फलमिदि । एदेसिं छण्हं पि अत्थो उच्चदे । मंगलत्थो पुव्वुत्तो । मंगल-कत्ता चोद्धस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ आइरियो । मंगल-करणीयं भव्व-जणो । मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि । मंगल-विहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं । मंगल-फलं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइ । तं (१ मु. मंगलं-फलं देहिंतो कय-अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइत्तं ।) मंगलं सुत्तस्स आदीए मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं । उक्तं च--

जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आनेवाला नहीं है । इसतरह इन दोनों धर्मोंको ही विषय करनेवाले (न एकंगमः नैगमः) नैगमनयकी अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है ।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिये । उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम छयासठ सागर प्रमाण है ।

मंगल कितने प्रकारका है? मंगल-सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है । मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका है । धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञान, दर्शन और तीन गुप्तिके भेदसे पांच प्रकारका है । अथवा 'जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो' इत्यादि रूपसे अनेक प्रकारका है ।

अथवा, मंगलके विषयमें छह अधिकारोंद्वारा दंडकोंका कथन करना चाहिये । वे इस प्रकार हैं । १ मंगल, २ मंगलकर्ता, ३ मंगलकरणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगल-भेद और ६ मंगल-फल । अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं । मंगलका अर्थ तो पहले कहा जा चुका है । चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं । भव्यजन मंगल करने योग्य हैं । रत्नत्रयकी साधक सामग्री मंगलका उपाय है । एक प्रकारका मंगल, दो प्रकारका मंगल इत्यादि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं । अभ्युदय और मोक्ष-सुख मंगलका फल है । अर्थात् जितने प्रमाणमें यह जीव मंगलके साधन मिलाता है उतने ही प्रमाणमें उससे जो यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगलका फल है । वह मंगल ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें कहना चाहिये । कहा भी है --

आदि-अवसाण-मज्झे १ (१ मु. आदिवसाणः मज्झे १) पण्णत्त मंगलं जिणिदेहि ।

तो कय-मंगल-विणयो इणमो २ (२ मु. वि णमोसुत्तं १) सुत्तं पवक्खामि ॥ १९ ॥

तिसु ट्ठाणेसु मंगलं किमटठं वुच्चदे ? कय-कोउय ३ (३ सौभाग्यादिनिमित्तं यत्त्नपनादि क्रियते तत्कौतुकम् । उक्तं च, सोहग्गादिणिमित्तं परेसिं ण्हवणादि कोउगं भणियं ॥ णाया- १, १४.)-मंगल-

पायच्छिन्नाः (४ कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहुः 'पायश्चित्त' ति पादेन पादे वा छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः । कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादि । भग. २, ५, १०८. टीका.) विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारी सोदारो वत्तारो आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जाफलं च पावेंतु ५ (५ मु. विज्जाफलं पावेंतु १) ति । उक्तं च-

आदिमिह भद्र-वयणं सिस्सा लहु पारया हवंतु ति ।

मज्झे अब्बोच्छिन्ती विज्जा ६ (६ मु. अब्बोच्छिन्ति य १) विज्जा-फलं चरिमे ७ (७ पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति । मज्झिम्मे णिव्विग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥ ति.प. १, २९.) ॥ २० ॥

जिनेन्द्रदेवने आदि, अन्त और मध्यमें मंगल करनेका विधान किया है । अतः मंगलविनयको करके मैं इस सूत्रका वर्णन करता हूँ ॥ १९ ॥

शंका-- ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोंमें मंगल करनेका उपदेश किसलिये दिया गया है?

समाधान-- मंगलसंबन्धी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मंगलसंबन्धी प्रायश्चित्त करनेवाले अर्थात् मंगलकेलिये आगे प्रारंभ किये जानेवाले कार्यमें दुःस्वप्नादिकसे मनमें चंचलता आदि न हो इसलिये प्रायश्चित्तस्वरूप मंगलीक दधि, अक्षत, चंदनादिकको सामने रखनेवाले और विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता अर्थात् पढनेवाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य और निर्विघ्नरूपसे विद्या तथा विद्याकेफलको प्राप्त हों, इसलिये तीनों जगह मंगल करनेका उपदेश दिया गया है । कहा भी है--

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारंभ किये गये ग्रंथाध्ययनादि कार्यकेपारंगत हों इसलिये आदिमें भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिये । प्रारम्भ किये गये कार्यकी व्युच्छिन्ति न हो इसलिये मध्यमें मंगलाचरण करना चाहिये, और विद्या तथा विद्याकेफलकी प्राप्ति हो, इसलिये अन्तमें मंगलाचरण करना चाहिये ॥ २० ॥

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलङ्घयन्ति ।

अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन १ (१ णासदि विग्घं भेददि यंहो दुट्ठा सुरा ण लंघंति । इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामं गहणमेत्तेण ॥ ति.प. १, ३०.) ॥ २१ ॥

आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः ।

तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तं च२ (२ मु. तच्च ।) मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय३ (३ मु. 'णिबद्ध-देवदाणमोक्कारो ।)-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण ण णिबद्धो४ (४ मु. कय-देवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं' ।) देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं । इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं, 'एत्तो५ (५ मु. यत्तो ।) इमेसिं चोदसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-'णमो अरिहंताणं' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो ।

सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि६? (६ जइ मंगलं सयं चिय सत्थं तो किमिह मंगलग्गहणं ? सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं ॥ इह मंगलं पि मंगलबुद्धीए मंगलं जहा साहू । मंगलतियबुद्धिपरिग्गहे वि नणु कारणं भणिअं ॥ वि. भा. २०,२१.) जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं, पावकारणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ।

विद्वान् पुरुषोंने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यकेआदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है । वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिकेलिये जिनेन्द्र भगवानकेगुणोंका कीर्तन करना ही है ॥ २२ ॥

वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल । जो ग्रन्थकेआदिमें ग्रन्थकारकेद्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं । और ग्रंथके आदिमे जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार निबद्ध नहीं किया जाता है उसे अनिबद्ध-मंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ-- ग्रन्थकार जो मंगल-पाठ स्वयं रचकर ग्रन्थमें निबद्ध करता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं । जो अन्य-रचित मंगल-पाठ ग्रन्थमें लिखा जाता है, या मौखिक किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं । इस व्यवस्थाके अनुसार षट्खण्डागमके प्रारम्भमें दिया गया णमोकार मंत्र निबद्ध मंगल है । उनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि, 'एत्तो इमेसिं चोदसण्हं जीवसमासाणं' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है । सुत्त-विरोहादो । अह मंगलं, किं तत्थ मंगलेण, एगदो चेय कज्ज-णिप्पतीदो इदि । ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स । सुत्तस्सादीए मंगलं

पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि, दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाण-पाव-दंसणादो । पढण-विग्घ-विद्दावणं मंगलं । सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सेढीए पावं गालिय पच्छ सव्व-कम्म-क्खय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न सूत्रविषयपरिङ्गानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात् । शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति ।

इदाणिं देवदा-णमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे ।

‘णमो अरिहंताणं’ अरिहननादरिहन्ता । नरकतिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावास-

शंका-- सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप हैं या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलकेअभावमें पापका कारण होनेसे उसमें सूत्रपनेका विरोध आता है । और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है, यदि कहा जाय कि सूत्र मंगल नहीं है, सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती, अतएव परिशेष न्यायसे वह मंगल है । तब फिर इसमें अलगसे मंगल क्यों किया गया ?

समाधान-- यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रकेआदिमें मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है कारण कि सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है ।

निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र, प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करकेउसकेबाद संपूर्ण कर्मोंकेक्षयका कारण होता है ।

शंका-- देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं । फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है?

समाधान---ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके विना केवल देवता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता-नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है ।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं । 'णमो अरिहंताणं' अरिहंतोंको नमस्कार हो । अरि अर्थात् शत्रुओंके'हननात्' अर्थात् नाश करनेसे 'अरिहंत' हैं ।

गत्राशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्ध-लक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्म-गुणाविभविप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेर्हननादरिहन्ता१ (१ रागद्वोसकसाए य इंदियाणि य पंच य । परीसहे उवसग्गे णासयतो णमोरिहा ॥ मूलाचा. ५०४. अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं । तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणा उवस्सग्गे । एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति । वि.भा. ३५८३, ३५८२.) ।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गाशेषत्रि-
कालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्द्रजांसि ।

नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है ।

शंका--- केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है ।

समाधान--- ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं । मोहके विना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं । जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जाय । इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन हैं ।

शंका--- मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनका मोहके आधीन होना नहीं बनता?

समाधान--- ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है । तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है । अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे 'अरिहंत' हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरंग स्वरूप समस्त त्रिकाल-गोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख मोहोऽपि

रजः, भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुध्दात्मनां जिह्वाभावोपलम्भात् किमित त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात् । तेषां हननादरिहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजार्हत्वाद्दार्हन्तः १(१ अरहन्ति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए । रजहन्ता अरिहन्ति य अरहन्ता तेण उच्चंदे ॥ मूलाचा. ५०५; अरिहन्ति वंदणमंसणाइं अरिहन्ति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा अरहन्ता तेण वुच्चन्ति ॥ देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हन्ता रयं हन्ता अरिहन्ता तेण वुच्चन्ति ॥ वि. भा. ३५८४, ३५८५.) । स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादार्हन्तः २ (२ अविद्यमानं वा रहः एकान्तरूपो देशः, अन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तरः [अरहन्ता] अथवा अविद्यमाना रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ता [अरहन्ता] अथवा 'अरहन्ताणं' ति) ।

भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्मभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका --- यहां पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान --- ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है । अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका नाश अवश्यभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहन्त होते हैं ।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहन्त होते हैं । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तराय कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं । ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहन्त होते हैं ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन्त होते हैं, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकोंमें देवोंद्वारा की गई पूजायें देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अर्हन्त होते हैं ।

आविर्भूतान्तानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्सायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृत
सिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्य-बिम्बवदेदीप्यमानाःस्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन
व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेष-प्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः
विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलांतीतत्वतो निष्कलाः, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः इति यावत् ।

णिद्ध-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण१ (१ अ. ब. वित्थिण्णाणाण.)-
सायरुत्तिण्णा ।

णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥ २३ ॥

दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।

दिट्ठ-सयलङ्ग-सारा सुदध्द-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥

ति-रयण-तिसूलदारियमोहंधासुर-कबंध-बिंद-हरा ।

सिद्ध-सयलप्प-रुवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुणस्वरूप होनेसे जिन्होंने यहीं पर

सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे निकलते हुए सूर्य-बिम्बके समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर-प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय अर्थात् रोगोंसे दूर हो जानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट हो जानेसे जो निरंजन हैं, और दोषोंकी कलायें अर्थात् संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण जो निष्कल हैं, ऐसे उन अरिहंतोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने तीनों कालोंको विषय करनेरूप तीन नेत्रोंसे कामदेवके प्रतापको दलित कर दिया है, जिन्होंने सकल

पदार्थोंके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग और व्देषको अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियोंकेपति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूलकेद्वारा मोहरूपी अंधकाररूपअसुरके कबन्धजडको विदारित कर लिया है,

क्वचिदप्यासत्किमगच्छन्तः क्षीणरागत्वात् । अथवा 'अरहयद्भयः' प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोऽ
तेतरविषय संपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजन्तः (अरहंता) । अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरम् । तत्र
' अरोहद्भयः ' अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात् । आह च, दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ नमस्करणीयता चैषां
भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्दरूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन परमोपकारित्वादिति । भग १, १, १,
टीका.

' गमो सिध्दाणं ' सिध्दाः निष्ठिताः कृतकृत्याः १ (१ सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिध्दिमापन्नः ॥ पु. सि. ११.) सिध्दसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः २ (२
दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्टकम्मसु । सिदे धत्ते णिधत्ते य सिध्दत्तमुवगच्छइ । मूलाचा. ५०७.)
सिध्दानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिध्दाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः । नष्टेषु
घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गूणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात् । तानि
शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः
आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्व

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे
अरिहंत परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४ , २५ ॥

विशेषार्थ --- शैवमतमें महादेवको अपने तीन नेत्रोंसे कामदेवका नाश करनेवाला, सकल पदार्थोंके
सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला, मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर, त्रिशूलको धारण करनेवाला और
अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है । महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर उक्त तीन

गाथाओंमेंसे अन्तकी दो गाथाओंकी रचना हुई है । इससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं ।

‘ णमो सिध्दाणं ’ अर्थात् सिध्दोंको नमस्कार हो । जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्यको सिध्द कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुकेहैं उन्हें सिध्द कहते हैं ।

शंका ---- सिध्द और अरिहंतोंमें क्या भेद हैं ?

समाधान ---- ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिध्द होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहंत होते हैं । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका ---- चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहंतोंके आत्माके समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये सिध्द और अरिहंत परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है ?

समाधान ---- ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहंतोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं । इसलिये इन दोनोंमें भेद है ।

शंका--- वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके व्दारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ?

समाधान ---- ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिध्द नहीं होता है, इसलिये अरिहंतोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिध्दि हो जाती है । अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जायं, तो शरीरका पतन हो जाना चाहिये । पंरतु शरीरका पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिध्द है । सिध्देः । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणः, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुणस्ततः एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः, केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिध्दम् ।

शंका ----- उन कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है । वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है । तथा, अघातिया कर्म आत्माके गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी हैं । इसलिये अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं बनता ?

समाधान ----- ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुर्कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतोके पाया जाता है ।

शंका ----- ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसके आत्माका गुण होने पर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव प्राप्त होता है । इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात् वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवानके केवलीपनाही नहीं बन सकता है ?

समाधान ----- यदि ऐसा है तो रहो, क्योंकि, वह न्यायसंगत है । फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

विशेषार्थ ----- अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है । फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है । परंतु प्रतिजीवी गुण आत्माके भावस्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुख्यता नहीं है । इसलिये सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये । टीकाकारने जो ऊर्ध्वगमन और सुख आत्माके गुण नहीं है, इसप्रकारका कथन किया है । वहां पर उन दोनों गुणोंका तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है । ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्याबाध गुणका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि, आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंको अवगाहन और अव्याबाध कहा है उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन किया है ।

तेभ्यः सिद्धेभ्यो नमः (१ नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवोपकारहेतुत्वादिति । भग. १, १, १, टीका.) इति यावत् ।

णिहय-विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा-विहुव-दुक्खा ।

सुह-सायर-मज्झ-गया णिरंजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥ २६ ॥

अणवज्ज कय-कज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठ-सव्वट्ठा ।

वज्ज-सिलत्थं भग्गयपडिमं २ (२ अ. ब. वज्जसिलत्थं सिग्गयपडिमं ।)

वाभेज्ज-संठाणा ॥ २७ ॥

माणुस-संठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।

सव्विंदियाण विसयं जमेग-देसे वि जाणंति ॥ २८ ॥

‘ णमो आइरियाणं ’^३ (३ जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासादि । आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ मूलाचा. ५१०. आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं । उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥ मूलाचा. ४९९.) पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः४ (४ मु. चरन्ति चारयन्तीत्पाचार्याः ।) (५ चोदसदसणवपूव्वी महामदी सायरो व्व गंभीरो । कप्पववहारधारी होदि हु आयारवं नाम ॥ मूलाचा. ४२५.)५ चतुर्दशविद्यास्थानपारगः६ (६ मु. पारगाः ।) (७ पंचमहव्वयतुंगा तक्कालियसपरसमयसुदधारा । णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥ ति. प. १,३.) ७ एकादशाङ्गधरः ८(८ मु. धराः ।) आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो९(९ गंभीरो दुद्धरिसो सूरुो धम्मप्पहावणासीलो । खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु स संपत्तो ॥ मूलाचा. १५९.) वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभय-

ऐसे सिद्धोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शेखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं, अनवद्य अर्थात्, निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे समस्त पर्यायोंसहित संपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिलामें उत्कीर्ण प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त हैं, जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि, जो संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको एक देशमें भी जानते हैं वे सिद्ध हैं ।

‘ णमो आइरियाणं ’ आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारोंका स्वयं आचरण करता है और दूसरे साधुओंसे आचरण कराता विप्रमुक्तः १ (१ तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्यु पंचमी ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युः भीतिराकस्मिकंततः । क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैता भीतयः स्मृताः ॥ पञ्चाध्या. २, ५०४, ५०५.) आचार्य : ।

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो२ (२ ‘ सुद्धछावासो ’ ण वसो अवसो, अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामयिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते । व्याधिमौर्बल्यादिना

व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । अथवा ' आवासो ' इत्ययमर्थः, आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं व्युत्सर्ग इत्यमी इत्यमूनि षडावश्यकानि ॥ मूलारा. गा. ११६ टीका.)

मेरु व्व णिप्पकंमो सूरु पंचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥

देस-कुल-जाइं-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।

गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होइ ॥ ३० ॥

संगह-णुग्गह ३ (३ मु. - णिग्गह- ।) कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ॥

सारण-वारण-सोहण ४ (४ मु.-साहण- ।)-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ५ (५

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती । किरियाचरणसुजुत्तो गाहुयआदेज्जवयणो य ॥ मूलाचा. १५८. समाचार अ.) ॥३१॥

एवंविधेभ्य आचार्येभ्यो ६ (६ आ मर्यादया तद्विषयविनयरुपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिः) नम इति यावत् ।

है उसे आचार्य कहते हैं । जो चौदह विद्यास्थानोंका पारंगत है, ग्यारह अंगका धारी है, अथवा आचारांगमात्रका धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारंगत है, मेरुके समान निश्चल है, पृथिवीके समान सहनशील है, जिसने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया है, और जो सात प्रकारके भयसे रहित है, उसे आचार्य कहते हैं ।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । जो संघके संग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करनेमें कुशल हैं, जो सुत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतोंकी शुद्धि करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

‘ णमो उवज्झायाणं ’ चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक-प्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः ।

चौदस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिव-त्थिओ-सिवत्थीणं ।

सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो ॥ ३२ ॥

एतेभ्य उपाध्यायेभ्यो १ (१ बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे । उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चंदि ॥ मूलाचा. षडावश्यक १०, आ. नि. १०००. ‘ उ ’ त्ति उवओगकरणे ‘ ज्झ ’ त्ति य ज्ञाणस्य होइ णिद्वेसे । एएण होंति उज्झा एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ ‘ उ ’ त्ति उवओगकरणे ‘ व ’ त्ति अ पावपरिवज्जणे होइ । ‘ ज्झ ’ त्ति अ ज्ञाणस्स कए ‘ ओ ’ त्ति अ ओक्कस्सणा कम्मे ॥ आ. नि. ९९८, ९९९. उप समीपमागत्याधीयते ‘ इड् अध्ययने ’, इति वचनात् पठ्यते ‘ इण् गतौ ’ इति वचनाद्वा अधि आधिक्येन गम्यते, ‘ इक् स्मरणे ’ इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्ते उपाध्यायाः । यदाह, बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे । तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥ अथवा उपधानमुपाधिः संनिधिस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो लाभः श्रुतस्य येषां ते । उपधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छेभनानामायो लाभो येभ्यः । अथवा उपाधिरेव संनिधिरेव आयं इष्टफलं दैवजनितत्वेन अयानां इष्टफलानां समूहस्तदेकहेतुत्वाद्येषां ते । अथवा आधीनां मनःपीडानामायो लाभ आध्याय अधियां वा ‘ नजः कुत्सार्थत्वात् ’ कुबुद्धीनामायोऽध्यायः । ध्यै चिन्तायां इत्यस्य धातोः प्रयोगान्नजः कुत्सार्थत्वादेव च दुर्ध्यानं वाध्यायः । उपहत आध्यायः अध्यायो वा यैस्ते उपाध्यायाः । नमस्यता चैषां सुसम्प्रदायायातजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वादिति । भग. १, १, १. टीका.) नमः २ (२ मु. नम इति यावत् ।) ।

‘ णमो उवज्झायाणं ’ उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार हो । चौदह विद्यास्थानके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं । वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणोंको छोडकर पहले कहे गये आचार्यके समस्त गुणोंसे युक्त होते हैं ।

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्रमें प्रवेश करके अर्थात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलंधरो अर्थात् मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं

ऐसे उपाध्यायोंको नमस्कार हो ।

इत्याचार्याः । उक्तं च, सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा । आ मर्यादया वा चारो विहारः अचारस्तत्र साधवः स्वथंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः । आह च, पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता । आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ॥ अथवा आ ईषद् अपरिपूर्णा इत्यर्थः चारा हेरिका ये ते आचाराः चारकल्पा इत्यर्थाः । युक्तायुक्तविभागनिरुपणनिपुणा विनेयाः, अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात् । भग. १,१,१. टीका.

‘णमो लोए सव्व साहूणं’ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपमं साधयन्तीति साधवः । पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसस्त्रगुणधराश्च साधवः ।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी ।

खिदि-उरगंबर-सरिसा-परम-पय-विमग्गया साहूण (१ गगणतलं व णिरालंबणा, वाउरिव अपडिबंधा, सारदसलिल इव सुध्दहियया, पुक्खरपत्त इव निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थिमा, सीहो इव दुध्दरिसा, मंदरा इव अप्पकंमा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरु इव दित्ततेया, जच्चकंक्वणगं च इव जातरुवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसया, सहयहुयासणो तेयसा जलंता अणगारा । सूत्र. २, २. ७०. उरगगिरिजलणसागरनहतलतरुगणसमो अ जो होई । भमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो अ तो समणो ॥ अनु. पृ. २५६.) ॥३३॥

सकलकर्मभूमिषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः २ (२ णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो । समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥ मूलाचा. ५१२ आ. नि. १००५. साधयन्ति इ णानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः । समतां वा सवर्तभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तिन्यायात् साधवः । यदाहू, णिव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेंति साहुणो । समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो ॥ सहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवाः । सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवताम-विशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम् । अथवा, सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वार्वाः, ते च ते साधवश्च सार्वसाधवः । सार्वस्य वा अर्हतो न तु बुध्दादेः साधवः सार्वसाधवः । सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति कुर्वन्ति, सार्वान् वा अर्हतः साधयन्ति तदाइ णाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधावः सार्वसाधवो वा । अथवा श्रव्येषु

श्रवणार्हेषु वाक्येषु अथवा सव्यानि दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वा । एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात् । भग. १,१,१. टीका.) ।

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ लोक अर्थात् ढाई व्दिपवर्ती सर्व साधओंको नमस्कार हो । जो अनन्तज्ञानादिरुप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्रप्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वतके समान परीषह और उपसर्गोंके आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभा-पुंजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले होते हैं ॥ ३३ ॥

संपुर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओंको नमस्कार हो ।

सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्त्यदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ

सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिध्दानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनाम्, अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः । तत अचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । नाचार्यादिस्थितरत्नांना सिध्दस्थरत्नेभ्यो भेदः, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न कारणकार्यत्वाद्भेदः, सत्स्वेवाचार्यादिस्थरत्नावयवेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नभागस्य १ (१ मु. रत्नाभोगस्य ।)

पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें, इस नमस्कार मंत्रमें जो ' सर्व ' और ' लोक ' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः संपूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिये ।

शंका ----- जिन्होंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है । अवएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान ----- ऐसा नहीं है, क्योंकि अपने अपने भेदोंसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा (यदि रत्नत्रयकी अपेक्षा देवपना न माना जाय तो) संपूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि, अरिहंतादिकसे आचार्यादिकमें रत्नत्रयके सभ्दावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् जिसतरह अरिहंत और सिद्धोंके रत्नत्रय पाया जाता है, उसीप्रकार आचार्यादिकके भी रत्नत्रयका सभ्दाव पाया जाता है । इसलिये आंशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है ।

आचार्यादि परमेष्ठियोंमें स्थित तीन रत्नोंका सिद्ध परमेष्ठीमें स्थित रत्नोंसे भी भेद नहीं है । यदि दोनोंके रत्नत्रयमें सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आवेगा । अर्थात् जब आचार्यादिकके रत्नत्रय सिद्ध परमात्माके रत्नत्रयसे भिन्न सिद्ध हो जावेंगे, तो आचार्यादिकके रत्न ही नहीं कहलावेंगे ।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्यग्दर्शनादिक रत्नोंमें कारण कार्यपनेसे भी भेद नहीं है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अवयवोंके रहने पर ही तिरोहित, अर्थात् कर्मपटलोंके कारण पर्यायरूपसे अप्रगट, दूसरे रत्नावयवोंका अपने आवरणकर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है । अर्थात् जैसे जैसे कर्मपटलोंका अभाव होता जाता है, वैसे ही स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षापरोक्षकृतो भेदः, वस्तुपरिच्छितिं प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदः, निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः, अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात् । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

विगताशेषलेपेषु सिध्देषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः,
गुणाधिकसिध्देषु श्रध्दाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो

वैसे अप्रगट रत्नोंके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं । इसलिये उनमें कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिध्दोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, वस्तु-परिच्छित्तिकी अपेक्षा दोनों एक हैं । केवल एक ज्ञानके अवस्थाभेदसे भेद नहीं हो सकता है । यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था-भेदसे भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमें भी भेद हो जायगा । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिध्दोंके रत्नोंमें अवयव और अवयवी-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं ।

शंका ----- संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नोंका एकदेश देव नहीं हो सकता ।

समाधान ----- ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपनाका अभाव होने पर रत्नोंकी समग्रतामें भी देवपना नहीं बन सकता है । अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमें नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामें कहांसे आ सकता है ?

शंका ----- आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं ।

समाधान ----- यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार पलाल-राशिका दाहरूप अग्नि-समूहका कार्य अग्निके एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये । इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है ।

शंका ----- सर्व प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिध्द-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया-कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान ----- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सबसे अधिक गुणवाले सिध्दोंमें श्रध्दाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहंत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिध्दोंमें सबसे अधिक श्रध्दा उत्पन्न होती है । अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त, आगम और पदार्थका

परिज्ञान नहीं हो सकता था । किंतु अरिहंत परमेष्ठीके न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया १ (१ अरहंतुवएसेणं सिध्दा नज्जंति तेण अरहाई । न वि कोइ य

परिसाए पणमित्ता पणमई रन्नो ॥ आ. नि. १०१५.) वादावर्हन्नमस्क्रियते २ (२ मु. वर्हन्नमस्कारः क्रियते ।)
। न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेःश्रेयोहेतुत्वात्, अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य
पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्या-पनार्थं वार्हतामादौ
नमस्कारः । उक्तं च -----

जस्संतियं धम्मपहं ३ (३ मु. घम्मवहं ।) णिगच्छे तस्संतियं वेणइयं पउंजे ।

सक्कारए तं सिर-पंचएण ४ (४ प्रतिषु ' पंचमेण ' इति पाठः । दो जाणू दोण्णि करा
पंचमंगं होइ उत्तमंगं तु । सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगपणिवाओ ॥ पञ्चा. वि. ३, १५.) काएण वाया
मणसा य णिच्चं ५ (५ जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे । सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायगिरा भो मनसा अ निच्चं । द. वै. ९, १३.) ॥ ३४ ॥

मंगलस्स कारणं गयं ।

संपहि णिमित्तमुच्चदे । कस्स णिमित्तं ? सुत्तावदारस्स । तं कधं जाणिज्जदि
प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया
जाता है ।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इसपर आचार्य
उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किंतु शुभ पक्षमें रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है ।
तथा द्वैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं
सकता है ।

विशेषार्थ ----- पक्षपात वहीं संभव है जहां दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी और अधिक आकर्षण होता
है । परंतु यहां परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, अवस्थाभेदकी
प्रधानता नहीं है । इसलिये यहां पक्षपात किसी प्रकार भी संभव नहीं है ।

अथवा आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस
बातके प्रसिद्ध करनेकेलिये भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है -----

जिसके समीप धर्म-मार्ग प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा
उसका, शिर-पंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जंघाएं इन पंचांगोंसे तथा काय, वचन और मनसे
निरन्तर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मंगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अब निमित्तका कथन करते हैं ----

शंका ----- यहां पर किसकेनिमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान ----- यहां पर सूत्रावतार अर्थात् ग्रन्थकेप्रारम्भ होनेकेनिमित्तका वर्णन किया जाता है ।
सुत्तावदारस्स, ण अण्णस्सेति ? पयरणादो । भोयण-वेलाए ‘सैंधवमाणि’ त्ति वयणादो लोण इव । बद्ध-बंध-
बंधकारण-मुक्क-मोक्ख-मोक्खकारणाणि णिक्खेव-णय-प्पमाणाणियोग-द्वारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणदु
त्ति सुत्तमोदिण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहर-देवादो त्ति ।

द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेदेतत्सर्वमभविष्यद्यदि
द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षित । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुनर्घटत एव ।

छद्द्व-णव-पयत्थे-सुय-णाणाइच्च-दिप्प-तेएण ।

पस्संतु भव्व-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो १ (१ छद्द्वणवपयत्थे
सुदणाणंदुमणिकिरणसत्तीए । देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण सच्छण्णा ॥ ति. प. १, ३४.) ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते । तत्र हेतुर्विधः, प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतुः ?

शंका ----- यह कैसे जाना जाता है कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है,
अन्यका नहीं ।

समाधान ----- यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे-भोजन करते समय ‘सैन्धव लाओ’ इस
प्रकारके वचनसे सैंधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहां पर
ग्रन्थावतारकेनिमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, बन्ध बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और
अनुयोगव्दारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र-ग्रन्थ अर्थ-प्ररुपणाकी
अपेक्षा तीर्थकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है ।

शंका ----- द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे
हो सकता है ।

समाधान ----- यह शंका तो तब बनती जब यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परंतु यहां पर
पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य-जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात् भलीभांति
जानें, इसलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका है, एक-प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शंका ----- यहां पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुर्विद्विधः, साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमङ्गलानाविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च १ (१ सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होदि पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणासं णाणदिवरस्स उप्पत्ती ।। देवमणुस्सादीहि य सततमब्भच्चणप्पयाराणी । पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेट्ठिकम्मणिज्जरणं ।। ति. प. १, ३६-३७.) । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयं नैश्रेय-समिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशदादि-देव-चक्रवर्ति-बलदेव-नारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम् २ (२ इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरं परं च णादव्वं । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं ।। दोभेदं च परोक्खं अब्भुदयसोक्खा मोक्खसोक्खाइं । सादादिविविहसुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं ।। इंदपडिंददिगिंदियतेत्तीससामरसमाणपहुदिसुहं । राजाहिराजमहाराजध्दमंडलिमंडलयाणं ।। महमंडलियाणं अध्दचक्किचक्कहरितित्थयरसोक्खं । अट्ठारसमेत्ताण सामीसेणेण भत्तिजुत्ताणं ।। ति. प. १, ३८-४१.) ।

समाधान ----- यहां पर सिन्धुदातके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु । उनमेंसे अज्ञानका विनाश सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना चाहिये ।

शंका ----- कर्मोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है ?

समाधान ----- ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मन-पर्ययज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिककेद्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्षहेतु दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैश्रेयससुख । इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवसंबन्धी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजा अधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर, आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य-सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं ।

अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।

राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम् ॥ ३६ ॥

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ -----

हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति सेट्ठि-दंडवई ।

सुद्ध-क्खत्तिय-बम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥

गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।

अटंठारह सेणीओ पयाइणा मेलिया होंति१ (वररयणमउडधारी सेवयमाणा णवंति दह अटंठं । देंता हवेदि राजा जितसत्तू समरसंघट्टे ॥ करितुरयरहाहिवई सेणावइ य मंति-सेट्ठी-दंडवई । सुद्धक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा ॥ गणरायमंतितलवर पुरोहिया मंतया महामंता । बहुविहपइण्णया य अट्टारसा होंति सेणीओ ॥ ति. प. १, ४२-४४.) ॥ ३८ ॥

पृतनाङ्ग-दण्डनायक-वर्ण-वणिग्भुग्-गणेङ्-महामात्राश्च ।

मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमात्य-तलवर-महत्तराः स्युः श्रेण्यः ॥ ३९ ॥

पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके ।

राजसहस्त्राधिपतिः प्रतीयतेऽसौ महाराजः ॥ ४० ॥

द्विसहस्त्रराजनाथो मनीषिभिर्वर्ण्यतेऽर्धमण्डलिकः ।

मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुः सहस्त्रावनीशपतिः ॥ ४१ ॥

जो नग्रीभूत अटारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षकेसमान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहां प्रकरणमें उपयोगी गाथाएं उद्धृत की जाती हैं ।

घोडा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी, महामात्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३७ , ३८ ॥

अथवा हाथी, घोडा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अंग, दण्डनायक; ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिक्मति, गणराज महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पांचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

अष्टसहस्रत्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधाः महामण्डलिकम् ।

षोडशराजसहस्रत्रैर्विनम्यमानस्त्रिखण्डधरणीशः १ (१ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो । रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महाराजो ॥ दुसहस्समउडबध्दभुववसहो तच्च अध्दमंडलिओ । चउराजसहस्साणं अहिणाहो होइ मंडलियं ॥ महमंडलिओ णामो अट्टसहस्साण अहिवई ताणं । रायाणं अध्दचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताणं ॥ ति. प. १, ४५-४७.) ॥ ४२ ॥

षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशध्दरणिपतिसहस्त्राणाम् ।

दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥

सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः ।

विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्टिः ॥ ४४ ॥

तिथ्यर-गणहरत्तं तहेव देविंद-चक्कवट्टित्तं ।

अण्णरिहमेवमाई अब्भुदय-सुहं २(२ मु. - फलं ।)

वियाणाहि ३ (३ छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबध्दपहुदीओ । होदि हु सयलचक्की तिथ्यरो सयलभुवणवई ॥ ति. प. १, ४५. बलवासुदेवादीनां पराक्रमवर्णनाय किञ्चिदुच्यते, सोलसरायसहस्सा सव्ववलेणं तु संकलनिबध्दं । अच्छंति वासुदेवं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ घेत्तूण संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं । भुंजिज्ज विलिंपिज्ज व महुमहणं ते न चाएंति ॥ दो सोला वत्तीसा सव्ववलेणं

तु संकलनिबद्धं । अच्छंति चक्कवट्टिं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ जं केसवस्स उ बलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥ आ. नि. ७१-७५.) ॥ ४५ ॥

तत्र नैःश्रेयसं नाम सिध्दानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च ---

अदिसयमाद-समुत्थं विसयादीदं अणोवममणंतं ।

अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुध्दुवजोगो य सिध्दाणं ४ (४ प्रवच. १,१३. ‘ सुध्दुवओगप्पसिध्दाणं ’ इति पाठभेदः) ॥ ४६ ॥

बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं । और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकमें बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्ररत्नको धारण करनेवाले और भरतक्षेत्रके छह खण्डके अधिपतिको दिव्य मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके उपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ चँवर दुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकमें तीर्थंकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तिपना और इसी प्रकारके अन्य अर्ह अर्थात् पूज्य पदोंको अभ्युदयसुख समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहंत और सिध्दोंके अतीन्द्रिय सुखको नैश्रेयस सुख कहते हैं । कहा भी है ----

अतिशयरुप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद-

भाविय-सिध्दंताणं दिणयर-कर-णिम्मलं हवइ णाणं ।

सिसिर-यर-कर-सरिच्छं हवइ चरित्तं स-वस-चित्तं ॥ ४७ ॥

मेरु व्व णिप्पकंमं णट्ठट्ठ-मलं ति-मूढ-उम्मुक्कं ।

सम्महंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा१ (१ सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदिआदीदं । अदिसयमादसमुत्थं णिस्सेयससमणुवमं पवरं ॥ सुदणाणभावणाए णाणं मत्तंड- किरण-उज्जोओ । आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं ॥ कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयग्गमलं । जायदि पयवणपढणे सम्महंसणमणुवमं णं ॥ ति. प. १, ४९-५१.) ॥ ४८ ॥

तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देव-मणुय-खयराणं ॥

उम्मुलियट्ट-कम्मं फुड सिध्द-सुहं पि पवयणादो २ (२ सुरखेयरमणुवाणं लब्भंति सुहाइ आरिसंभासा । तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदधातुणध्दमलं । ति. प. १, ५२.) ॥ ४९ ॥

जिय ३ (३' व. ' प्रतौ ' जियमोहिंघणजलणो ' इत्यादि गाथाव्दयं नास्ति ।

)-मोहिंघण-जलणो अण्णाण-तमंधयार-दिणयरओ ।

कम्म-मल-कलुस-पुसओ-जिण-वयणमिवोवही सुंहयो ॥ ५० ॥

अण्णाण-तिमिर-हरणं-सुभविय-हिययारविंद-जोहणयं ।

उज्जोइय-सयल-वहं सिध्दंत-दिवायरं भजह ४

(४ गाथाङ्के ५०-५१ तमे ताप्रतौ न स्तः ।) ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुध्दोपयोग सिध्दोंको होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिध्दान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सुर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूढताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिध्द सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

वह जिनागम जीवके मोहरूपी ईधनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञानरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिध्दान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

अथवा जिनपालितो निमित्तम्, हेतुर्मोक्षः, शिक्षकाणां हर्षोत्पादनं निमित्त-हेतुकथने प्रयोजनम् । परिमाणमुच्चदे-अक्खर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं । पदं पडुच्च

अट्टारह-पद-सहस्सं । शिक्षकाणां हर्षोत्पादनार्थं मतिव्याकुलता-विनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते १ । (१
विविहत्थेहि अणंतं संखेज्जं अक्खराणगणणाए । एदं पमाणमुदिदं सिस्साणं मइविकासयरं ॥ ति. प. १, ५३.
) णामं जीवद्वाणमिदि । कारणं पुव्वं व वत्तव्वं ।

तत्थ कत्ता दुविहो २ (२ कत्तारो दुवियप्पो णादव्वो अत्थगंथभेदेहि । दव्वादिचउप्पयारेहिं भासिमो
अत्थकत्तारो ॥ सेदरजाइमलेणं रत्तच्छिकदुक्खवाणमोक्खेहिं । इयपहुदिदेहदोसेहिं संततमदूसिदसरीरो ॥
आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचारुसंठाणो । दिव्ववरगंधधारी पमाणट्ठिदरोमणखरुवो ॥
णिब्भूसणायुधंबरभीदी सोम्माणणा-दिदिव्वतणू । अट्ठब्भहियसहस्सपमाणवरलक्खणोपेदो ॥
चउविहउवसग्गेहिं णिच्च विमुक्को कसायपरिहीणो । छुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं ॥ ति. प. १,
५५-५९.) -अत्थ-कत्ता गंथ-कत्ता चेदि । तत्थअत्थ-कत्ता दव्वादीहि चउहि परुविज्जदि । तत्र तस्य तावद्
द्रव्यनिरुपणं क्रियते, स्वेद-रजो-मल-रक्तनयन-कटाक्षशरमोक्षादि-शरीरगताशेषदोषादूषित-
समचतुरस्त्रसंस्थान-वज्रवृषभसंहनन-दिव्यगन्ध-प्रमाणस्थितनखरोम-निर्भूषणायुधाम्बरभय-सौम्यवदनादि-
विशिष्टदेहधरः

अथवा, जिनपालित इस श्रुतावतारके निमित्त हैं और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात् मोक्षके हेतु
जिनपालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है। यहां पर निमित्त और हेतुके कथन करनेसे
पाठकजनोंको हर्षका उत्पन्न करना ही प्रयोजन है।

अब परिमाणका व्याख्यान करते हैं, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, और अनुयोग द्वारोंकी अपेक्षा
श्रुतका परिमाण संख्यात है और अर्थ अर्थात् तद्वाच्य विषयकी अपेक्षा अनन्त है। पदकी अपेक्षा अट्टारह
हजार प्रमाण है। शिक्षकजनोंको हर्ष उत्पन्न करानेके लिये और मतिसंबन्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये
यहां पर परिमाण कहा गया है।

नाम---इस शास्त्रका नाम जीवस्थान है।

कारण---कारणका व्याख्यान पहले कर आये हैं। उसी प्रकार यहांपर भी उसका व्याख्यान करना
चाहिये।

कर्ताके दो भेद हैं, अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता। इनमेंसे अर्थकर्ताका द्रव्यादिक चार के द्वारा निरुपण
किया जाता है। उनमेंसे पहले द्रव्यकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरुपण करते हैं -----

पसीना, रज अर्थात् बाह्य कारणोंसे शरीरमें उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे उत्पन्न हुआ मल, रक्त-नेत्र और कटाक्षरूप बाणोंका छोडना आदि शरीरमें होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे रहित, समचतुरस्त्र संस्थान, वज्रवृषनाराच संहनन, दिव्य-सुगन्धमयी, सदैव योग्य प्रमाणरूप नख और रोमवाले, आभूषण, आयुध, वस्त्र और भयरहित सौम्य-सुख आदिसे

चतुर्विधोपसर्गक्षुधादिपरिषह-रागव्देषकषायेन्द्रियादिसकलदोषगोचरातिक्रान्तः

योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा-सप्तहतशतकुमाभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकार-

न्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः

भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-

कल्पवासीन्द्र १ (१ जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो । मिदमधुरगभीरतरा विसदविसयसयल-भासाहिं ॥ अड्डरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा । अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सलयभासाओ ॥ एदासिं भासाणं तालुवदंतोड्डकंठवावारं । परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो ॥ भावणवेंतरजोइसिकप्पवासेहिं केसवबलेहिं । विच्चाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ॥ एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो । दिड्डसयलड्डसारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति. प. १, ६०-६४.)-विद्याधर-चक्रवर्ति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्ध-महामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि-देव-विद्याधर-मनुष्यर्षि-तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता ।

तत्थ खेत्त-विसिट्ठोत्थ-कत्ता परुविज्जदि ---

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।

णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे २ (२ जयधवलायां गाथेयं ' सिध्दचारणसेविदे ' इति चतुर्थचरणपाठभेदेनोपलभ्यते । सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि । विउलम्मि पव्वदवरे वीरजीणो अड्डकत्तारो । ति. प. १, ६५. ईरेइ विसेसेण क्खवेइ कम्माइं गमयइ सिवं वा । गच्छइ य तेण वीरो स महं वीरो महावीरो ॥ वि. भा. १०६५.) ॥ ५२ ॥

महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स

अत्तोपयोगिनो श्लोको ---

युक्त ऐसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्ग, क्षुधा आदि बावीस परीषह, राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रिय-विषय आदि संपूर्ण दोषोंसे रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यच, देव और

मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी, देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि, देव तथा विद्याधर-मनुष्य-ऋषि और तिर्यचोंके इन्द्रोंसे पूजाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थकर अर्थकर्ता समझना चाहिये ।

अब क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं -----

पंचशैलपुरमें (पंचपहाड़ी अर्थात् पांच पर्वतोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास) रमणीक, नानाप्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे वन्दित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य-जीवोंको अर्थका उपदेश दिया अर्थात् दिव्य-ध्वनिके द्वारा जीवादि पदार्थों और मोक्षमार्ग आदिका उपदेश दिया ॥ ५२ ॥

इसविषयमें दो उपयोगी श्लोक हैं---

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां १ (१ जयधवलायां ' भूगिरि ' इति पाठः ।) चतुरस्त्रो याम्यदिशि च वैभारः ।

विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र २ (२ चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो । णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोण-ट्टिदायारा ॥ ति. प. १, ६६.) ॥ ५३ ॥

धनुराकारशिछन्नो वारुणवायव्यसौम्यदिक्षु ततः ।

वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृताः ३ (३ धनुराकारश्चन्द्रो वारुणवायव्यसामदिक्षु ततः । वृत्ताकृतिरीशाने पांडुः सर्वे कुशाग्रवृताः जयध. अ. पृ. ९. चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेषु । ईसाणाए पंडुव वट्टो सब्बे कुसग्गपरियरणा ॥ ति. प. १, ६७. ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्त्रः सनिर्झरः । दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥ वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः । दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥ सज्यचापाकृतिस्तिस्त्रो दिशो व्याप्य बलाहकः । शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥ ह. पु. ३, ५३-५५.) ॥ ५४ ॥

ऐसो खेत्त-परिच्छेदो ।

तत्थ कालदो अत्थ-कत्ता परुविज्जदी ---

इमिसे ४ (४ मु. इम्मिस्से ।) वसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए ।

चौत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते ५ (५ एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि । तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ॥) ॥ ५५ ॥

पूर्व दिशामें चौकोर आकारवाला ऋषिगिरि नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामें वैभार और नैऋत दिशामें विपुलाचल नामके पर्वत हैं । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं ॥ ५३ ॥

पश्चिम, वायव्य और सौम्य दिशामें धनुषके आकारवाला फैला हुआ छिन्न नामका पर्वत है । ऐशान दिशामें वृत्ताकार पाण्डु नामका पर्वत हैं । ये सब पर्वत कुशके अग्रभागोंसे ढके हुए हैं ॥ ५४ ॥

यह क्षेत्र-परिच्छेद समझना चाहिये ।

अब कालकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं ----

इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःषमा-सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम चौत्तीस वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें, प्रथमपक्ष अर्थात्

वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।

पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि १ (१ वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए । अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥ ति. प. १, ६८-६९.) ॥ ५६ ॥

सावण-बहुल-पडिवदे रुद्ध-मुहुत्ते सुहोदए रविणो ।

अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ २ (२ मु. जत्थ ।)

जुगाई ३ (३ जुगाइ (युगादि) युगारम्भे, युगारम्भकाले प्रथमतः प्रवृत्ते मासि

तिथिमुहूर्तादौ च । आदि जुगस्स संवच्छरो उ मासस्स अध्दमासो उ । दिवसा भरहेरवए राईया सह विदेहेसु

॥ युगस्य X X संवत्सर पंचकात्मकस्यादिः संवत्सरः । स च श्रावणतः आषाढपौर्णमासीचरमसमयः । ततः

प्रवर्तमानः श्रावण एव भवति । तस्यापि च मासस्य श्रावणस्यादिरर्धमासः पक्षः पक्षव्यमीलनेन मासस्य

संभवात् । सोऽपि च पक्षो बहुलो वेदितव्यः पौर्णमास्यनन्तरं बहुलपक्षस्यैव भावात् । X X । दिवसाइ अहोरत्ता

बहुलाईयाणि होंति पव्वाणि । अभिई नक्खत्ताई रुद्धो आई मुहुत्ताणं ॥ सावण-बहुलपडिवए बालवकरणे

अभिइनक्खत्ते । सब्वत्थ पढमसमए जुगस्स आइं वियाणाहि ॥ ज्यो. क. २ पाहुड । वक्ष्यन्ते ये च कालांशाः

सुषमसुषमादयः । आरम्भ प्रतिपद्यन्ते सर्वे तेऽपि युगादितः ॥ लो. प्र. २५, ४७१.) मुणेयव्वो ४ (४

सावणबहुले पाडिव रुद्धमुहुत्ते सुहोदए रविणो । अभिजिस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥ ति. प.

१, ७०. श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यन्हि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥ ह. पु. २, ९१.

)॥५७॥

एसो कालपरिच्छेदो ।
